पत्रिका-पाठ वाया *सुधा*

विजय झा

I

शोबना निझावन हिंदी की उपनिवेशकालीन दुनिया (1920-50) की अध्येता हैं।[1] उस दौर की स्त्री/कन्या पत्रिकाओं पर उनके कई शोध-पत्र और किताबें[2] प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके एक पर्चे का हिंदी अनुवाद *कथा* पत्रिका में प्रकाशित हुआ है।[3] इस लिहाज़ से वे हिंदी-जगत में अपनी उपस्थिति दर्ज कर चुकी हैं। प्रस्तुत अध्ययन हिंदी की उल्लेखनीय पत्रिका *सुधा* और गंगा पुस्तकमाला कार्यालय पर केंद्रित है। इससे पहले का उनका शोध स्त्री/कन्या पत्रिकाओं पर केंद्रित था। प्रस्तुत अध्ययन को उसी की अगली कड़ी माना जा सकता है। कारण यह कि पहले वाले अनुसंधान में शोबना ने पत्रिकाओं के पाठ के जो तरीक़े प्रस्तावित किये थे और जिनका प्रयोग किया था, उन्हीं को इसी बार एक पत्रिका-विशेष पर आजमाते हुए उसका विचारोत्तेजक पाठ पेश किया है।

---

[1] शोबना निझावन यॉर्क विश्वविद्यालय, कनाडा के भाषा, साहित्य और भाषाविज्ञान विभाग में एसोसिएट प्रोफ़ेसर हैं.

[2] शोबना निझावन (2012).

[3] वही (2015) : 166-174.

उपनिवेशकालीन हिंदी पत्र-पत्रिकाओं और प्रेस को स्रोत के रूप में इस्तेमाल कर अथवा उन्हें केंद्र में रख कर हिंदी में भी शोध और अध्ययन की परम्परा रही है।[4] लेकिन शोबना का प्रस्तुत अध्ययन इस लिहाज़ से भिन्न है कि इसमें उन्होंने पत्रिका-अध्ययन (पीरिओडिकल स्टडीज़) नामक उदीयमान अध्ययन-क्षेत्र की पाठ-पद्धति का प्रयोग किया है। इस पद्धति से वे हमें अपनी पूर्ववर्ती किताब में अवगत करा चुकी हैं। प्रस्तुत किताब में भी परिचय वाले हिस्से में शोबना ने इस पर रोशनी डाली है।

इस पद्धति की बुनियादी प्रस्तावना यह है कि पत्रिकाओं को अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण *ज़ॉनर* (प्रकाशन-रूप) मानना चाहिए और उनका उसी रूप में पाठ भी किया जाना चाहिए। उपनिवेशकालीन हिंदी पत्रिकाएँ लम्बी अवधि तक बहु-विधात्मक स्वरूप लिए रहीं। उनमें चित्र, कविता, कहानी, निबंध, धारावाहिक, विज्ञापन आदि तमाम तरह की रचनाएँ प्रकाशित हुआ करती थीं। बाद में शिक्षण-संस्थानों में ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों के आकार लेने के साथ-साथ अनुशासन-केंद्रित पत्रिकाओं के निकलने का सिलसिला शुरू हुआ। लेकिन भारतीय और हिंदी ज्ञान-जगत में भाषा, साहित्य और ज्ञानोत्पादन की राजनीति कुछ ऐसी चली कि उस दौर की साहित्येतर पत्र-पत्रिकाएँ (हालात आज भी बदले हुए नहीं माने जा सकते) नज़रअंदाज़ होती चली गयीं। जहाँ तक बहुविधात्मक साहित्यिक पत्रिकाओं की बात है तो न केवल उनमें प्रकाशित विधाओं के बीच पदानुक्रम क़ायम हुआ, बल्कि ख़ुद उन्हें उच्च, मध्यम और निम्न/लोकप्रिय की श्रेणी में वर्गीकृत किया गया। ऐसे में हिंदी में तद्विषयक शोध भी तदनुसार चयनशील रुख़ अख़्तियार करते चले गये। इधर, कुछ इतिहासकारों ने इन पदानुक्रमों से ऊपर उठ कर तमाम तरह की सामग्री को एक समान तवज्जो देते हुए औपनिवेशिक हिंदी सम्पार की समझ को गहराई और विस्तार देने का सराहनीय प्रयास किया है।[5]

II

पत्रिका-पाठ की नयी पद्धति पत्रिकाओं और विधाओं के बीच के पदानुक्रम को उचित नहीं मानती। उसके मुताबिक़ पत्रिकाओं में प्रकाशित समस्त विधाएँ उस दौर की समझ को बेहतर करने के लिहाज़ से एक-समान महत्त्व रखती हैं। अलग-अलग विधाओं की सामग्री को एक साथ और एक-समान तवज्जो देने से उपजी कठिनाई के मद्देनज़र इस पद्धति के तहत पाठ के चार तरीक़े ईजाद किये गये हैं: क्षैतिज, ऊर्ध्वाधर या कालक्रमिक, एकीकृत और संदर्भगत।[6] शोबना ने प्रस्तुत अध्ययन के लिए पहली तीन विधियों का प्रयोग किया है। चूँकि वे केवल *सुधा* की फ़ाइलों पर निर्भर रही हैं इसलिए संदर्भगत विधि को उन्होंने हाथ नहीं लगाया। इसके लिए उन्हें अन्य समकालीन अभिलेखागारों की भी ज़रूरत पड़ती।

पहले अध्याय में शोबना ने एकीकृत विधि अपनाई है। पत्रिका-पाठ की इस विधि में पत्रिका को समकालीन प्रिंट संस्कृति, ख़ासकर अन्यान्य समकालीन पत्रिकाओं और प्रकाशनों के सापेक्ष रखते हुए मंचस्थ किया जाता है। शोबना ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि दुलारेलाल भार्गव ने लखनऊ में अपने सम्पादन में निकलने वाली पत्रिकाओं *माधुरी* और *सुधा* तथा गंगा पुस्तक माला

---

[4] हर प्रसाद गौड़ (1983). तथा सुजाता राय (1995). ये प्रकाशित किताबें हैं जिनकी जानकारी मुझे मिल पाई है, लेकिन इस तरह की और भी किताबें होंगी, अप्रकाशित थीसिस होंगी. यह अपने आप में अध्ययन का एक विषय हो सकता है कि भारत के विश्वविद्यालयों में हिंदी पत्रिकाओं पर केंद्रित या उससे संबंधित कितने और किस प्रकार के शोध हुए हैं.

[5] चारु गुप्ता (2012).; अविनाश कुमार (2014), अप्रकाशित थीसिस. http://hdl.handle.net/10603/29068

[6] पाठ के ये तरीक़े 'अ न्यू एप्रोच टू द पॉपुलर प्रेस इन चाइना : जेंडर ऐंड कल्चरल प्रोडक्शन, 1904-37' नामक अंतर्राष्ट्रीय सहयोगात्मक परियोजना के संदर्भ में विकसित किये गये हैं. इनके बारे में विस्तृत जानकारी के लिए देखें, मिशेल हॉक्स, जोआन जज और बारबरा मिटलर (2018) : 8-10.

शोबना निझावन

कार्यालय को किन युक्तियों के सहारे तत्कालीन हिंदी की दुनिया में उल्लेखनीय मुक़ाम तक पहुँचाया। भार्गव से पहले मुंशी नवल किशोर लखनऊ में पुस्तक-साम्राज्य स्थापित कर चुके थे।[7] लेकिन जैसा कि शोबना बताती हैं, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के लिहाज़ से उन दिनों पहले बनारस और बाद में इलाहाबाद केंद्र हुआ करता था। लेकिन लखनऊ से जब ये दोनों पत्रिकाएँ निकलना शुरू हुईं तो पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के मामले में यह शहर भी अग्रिम पंक्ति में आ गया। गंगा पुस्तक माला ने ख़ुद को न केवल लखनऊ बल्कि समूचे हिंदी प्रकाशन जगत में प्रबल प्रतिस्पर्धी के रूप में खड़ा किया। नवल किशोर परिवार का सदस्य होने और नवल किशोर प्रेस से *माधुरी* निकालने के दौरान उन्होंने लेखन-प्रकाशन की दुनिया से जुड़े लोगों के साथ बड़ा सम्पर्क-तंत्र बनाया। इसके अलावा वे आर्य समाज से भी जुड़े थे। इन सबकी वजह से वे *सुधा* और गंगा पुस्तक माला को कामयाबी के शिखर तक ले जाने में सफल हो सके।

वैसे तो, उन दिनों सम्पादक और प्रकाशक अपने काम को साहित्य-सेवा (राष्ट्र-सेवा) कहा करते थे। लेकिन उसके साथ व्यावसायिकता आबद्ध थी। इस पहलू को नज़रअंदाज़ कर टिक पाना मुश्किल था। शोबना बताती हैं कि इस मामले में भार्गव काफ़ी कुशल थे। गुणवत्ता और व्यावसायिकता को उन्होंने बख़ूबी साधा था। वे रचनाकारों से *सुधा* जैसी उच्च कोटि की पत्रिका में प्रकाशित होकर प्रतिष्ठित होने की अपील करते थे, उन्हें पारिश्रमिक दिया करते थे, पुस्तकों का विज्ञापन छापा करते थे। शोबना लिखती हैं कि भार्गव ने *सुधा* की शुरुआत ही उसके एक सम्मानित/उच्च कोटि की पत्रिका होने की घोषणा के साथ की, जबकि आम तौर पर किसी पत्रिका की पहचान उसके प्रकाशित होने की प्रक्रिया में धीरे-धीरे बनती थी। (पृ. 24) इतना ही नहीं, *सुधा* के सम्पादक ने यह भी दावा किया कि पाठक इस पत्रिका को अस्थायी साहित्य न मानें। उन्होंने *सुधा* को संग्रहणीय और हिंदी साहित्य की निधि क़रार देते हुए शुरू में ही कहा कि पाठक इसे *हरिश्चंद्रचंद्रिका, हिंदी प्रदीप, ब्राह्मण* और *सरस्वती* सरीखी पत्रिकाओं के समान ही बाद के वर्षों में भी प्रासंगिक पाएँगे। दिलचस्प है कि भार्गव ने पाठकों के समक्ष *सुधा* के अंकों को जिल्द के रूप में संरक्षित करने की पेशकश भी की थी।

शोबना के मुताबिक़ *सुधा* को एक कामयाब पत्रिका बनाने में *माधुरी* का सम्पादकीय अनुभव भी काम आया। (पृ. 24) पाँच साल तक इस पत्रिका का सम्पादन करने के बाद 1927 में भार्गव और रूपनारायण पाण्डे ने *सुधा* का प्रकाशन शुरू किया था। इससे पहले, साहित्यिक खुलेपन, नवाचार, साज-सज्जा आदि युक्तियों के सहारे उन्होंने *माधुरी* को हिंदी की सर्वोच्च पत्रिका बना दिया था। वही नुस्ख़े उन्होंने *सुधा* के मामले में भी अपनाए। उनके समक्ष स्पर्धी के तौर पर *माधुरी* के साथ-साथ *सरस्वती* और *विशाल भारत* जैसी पत्रिकाएँ भी थीं। ख़ासकर, *सरस्वती* तो अपने-आप में एक प्रतिष्ठान-सा थी। वहीं, रामरख सिंह सहगल के सम्पादन में निकल रही पत्रिका *चाँद* भी काफ़ी लोकप्रिय हो चली थी। वह ख़ुद को स्त्रियों की सामाजिक पत्रिका कहती थी। शोबना ने *सुधा* के बाद के दिनों में *चाँद* से प्रभावित होने की सम्भावना की तरफ़ संकेत किया है। कहना न होगा कि हिंदी की दुनिया में अभी भी पढ़ने वालों की संख्या काफ़ी कम थी। बेहद कम पाठकों के बीच जगह

[7] उलराइक स्टार्क (2009).

बनाने के लिए पत्रिकाओं के बीच कड़ी स्पर्धा थी। शोबना लिखती हैं कि ऐसे में भार्गव ने *सरस्वती* की तरह किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति या विचार-कुल मात्र का मुखपत्र होने की बजाय *सुधा* के पृष्ठों को विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों और विधाओं के लिए खुला रखा। (पृ. 26)

सुधा पत्रिका के इस अवलोकन के बाद शोबना ने इसी अध्याय में आगे चलकर गंगा पुस्तक माला कार्यालय की चर्चा की है। वे लिखती हैं कि बीसवीं सदी के पूवार्द्ध में महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली प्रकाशन माने जाने के बावजूद अब तक इसके द्वारा रचित व्यावसायिक नेटवर्क और इसके हिंदी साहित्यिक क्षेत्र पर पड़े प्रभावों का विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ है। (पृ. 29) इस प्रकाशन से सामान्य और ख़ास पाठक वर्ग, दोनों के लिए विभिन्न विधाओं/विषयों की अनेक किताबें प्रकाशित हुईं, जिनमें से कुछ की सूची शोबना ने इस किताब में दी है। गंगा पुस्तक माला के तहत प्रकाशन के साथ-साथ वितरण का काम भी किया जाता था। वह न केवल अपनी किताबें बल्कि कई अन्य प्रकाशकों की किताबों की भी बिक्री और वितरण किया करती थी। इस भूमिका में वह अन्य प्रकाशकों और वितरकों के साथ संयुक्त विज्ञापन दिया करती थी। ख़ुद *सुधा* में इन तमाम प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित नयी किताबों के बारे में हर महीने जानकारी दी जाती थी। यानी स्पर्धा के बावजूद छोटे हों या बड़े, सभी प्रकाशक एक साझे कार्यक्रम के तहत काम कर रहे थे और वह था साहित्य का निर्माण और उसका प्रसार, जो राष्ट्र-सेवा में योगदान था। इसके साथ ही, वे प्रिंट साहित्य के व्यवसायीकरण को भी अंजाम दे रहे थे।

दूसरे अध्याय में शोबना ने क्षैतिज विधि का उपयोग किया है। इस तरीक़े में मुख पृष्ठ से लेकर टेक्स्ट, चित्र, कार्टून, विज्ञापन, पाठकों के पत्र आदि सभी प्रकाशित सामग्री को एक-दूसरे के साथ रखते हुए पाठ का प्रयास किया जाता है। शोबना ने सबसे पहले तो इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की तरफ़ ध्यान दिलाया है कि इसके आरम्भिक अंकों के मुख पृष्ठ के चित्र में पाठकों को *सुधा* यानी अमृत का पान (ज्ञान-प्रसार) भले ही एक स्त्री द्वारा कराया जा रहा हो, लेकिन इसके सम्पादकगण और लेखक प्रायः पुरुष थे। हाँ, दुलारे लाल भार्गव की पत्नी सावित्रीदेवी भार्गव ज़रूर अपवाद थीं, जो पत्रिका के साथ बतौर पाठक, लेखक और (बाद के दिनों में) उपसम्पादक के रूप में जुड़ी हुई थीं। शोबना पत्रिका की संरचना के बारे में बताती हैं कि *सुधा* के हर अंक की शुरुआत 15-25 विज्ञापनों से हुआ करती थी। पत्रिका के दो भाग हुआ करते थे। पहले भाग में गल्प, कविताएँ, विविध विषयों पर लेख, चित्र आदि हुआ करते थे। दूसरे भाग में नियमित स्तम्भ हुआ करते थे। विज्ञापन केवल शुरुआती पृष्ठों में ही नहीं बल्कि पत्रिका के अंदर के पृष्ठों में भी छपते थे। सबसे ज़्यादा विज्ञापित सामग्री किताबों का सूची-पत्र थी, जो शोबना के मुताबिक़ किताबों के इतिहास के अध्येताओं के लिए मूल्यवान स्रोत हो सकता है। (पृ. 65) इनके अलावा, उपभोक्ता सामग्री के विज्ञापन भी छपा करते थे, जो हिंदी पाठकों की उपभोग-रुचि का संकेत दे सकते हैं। क्षैतिज विधि की एक बुनियादी मान्यता यह भी है कि कोई पत्रिका अपने घटकों का कुल योग भर नहीं होती। वह जो कहने या करने की घोषणा करती है उससे कहीं अधिक संश्लिष्ट

उपनिवेशवादकालीन हिंदी पत्रिकाओं के किसी भी पक्ष के शोध के इच्छुक शोधार्थी को सामग्री जुटाने की बेहद कठिन और थका देने वाली प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है। ... शोधार्थी को दिल्ली, इलाहाबाद, बनारस, कोलकाता और न जाने कहाँ-कहाँ की ख़ाक छाननी पड़ती है। दरअसल, अभिलेखागार बनाने के काम को अकादमिक/बौद्धिक गतिविधि नहीं माना जाता। इसलिए चाह कर भी कोई सामान्य अध्येता/शोधार्थी इस तरफ़ रुख़ नहीं करता। हिंदी के पत्रिका-प्रेस की महत्ता को यदि किसी ने सबसे पहले भाँपा था तो वे थे रामविलास शर्मा। उन्होंने उस सामग्री का भरपूर इस्तेमाल भी किया। उनके बाद भी उस दौर की पत्र-पत्रिकाओं का स्रोत के रूप में उपयोग का सिलसिला जारी रहा।

को अंजाम देती है। *सुधा* और गंगा पुस्तक माला के साहित्य संबंधी विचार नीतिनिर्देशमूलक ही थे। उसमें प्रकाशित अधिकांश तस्वीरों और कहानियों का रुझान इसी ओर था। लेकिन इसी के साथ-साथ मध्यवर्गीय यौन-नैतिकता और भद्रता को धता बताते सेक्स मैनुअल्स और ताक़त बढ़ाने वाली दवाओं के विज्ञापन भी छपते थे। (पृ. 100) अब यदि इन सबको एक साथ रखते हुए पत्रिका को पढ़ा जाए तो वह निश्चित तौर पर कोई स्पष्ट रुख़ अपनाती नज़र नहीं आएगी। और यही उसकी ख़ासियत भी है।

शोबना बताती हैं कि हिंदी में शायद ही कोई ऐसा नामी पुरुष लेखक था, जो *सुधा* के जीवन काल (1927-41) में इसकी (गंगा पुस्तक माला समेत) परिधि से बाहर रह पाया हो। (पृ. 67) वहीं, पत्रिका में लेखिकाओं को बहुत कम जगह मिली। *सुधा* के दिनों तक आते-आते पत्रिका प्रकाशन का किस क़दर व्यावसायीकरण हो चुका था इसका अंदाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि दूसरों द्वारा की जाने वाली प्रशंसाएँ छापने के साथ-साथ *सुधा* ख़ुद अपनी प्रशंसा भी प्रकाशित किया करती थी। शोबना ने इसके कई उदाहरण दिये हैं। पत्रिकाओं के मुख पृष्ठ के चित्रों को अध्येता आम तौर पर अप्रासंगिक मानते रहे हैं। लेकिन पत्रिका-पाठ के नये तरीक़े को अपनाते हुए शोबना ने सुधा के चित्रों का बड़ा ही दिलचस्प विश्लेषण किया है।

तीसरे अध्याय में शोबना ने *सुधा* और गंगा पुस्तक माला द्वारा प्रकाशित विभिन्न विधाओं और विषयों से रूबरू कराया है। वे बताती हैं कि पत्रिका ने उपयोगितावादी-राष्ट्रवादी (द्विवेदी स्कूल), छायावादी और प्रगतिवादी— तीनों ही साहित्यिक प्रवृत्तियों/आंदोलनों से जुड़े लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित कीं। उन दिनों सस्ते लोकप्रिय साहित्य के प्रकाशनों की भी बाढ़ देखी गयी, जिनका उद्देश्य मात्र मनोरंजन प्रदान करना और मुनाफ़ा कमाना था। तथाकथित उच्च साहित्य की मध्यवर्गीय नैतिकता का अतिक्रमण करने वाले ऐसे साहित्य को प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ भले ही प्रकाशित न करती थीं, लेकिन वे ख़ुद को रेलवे स्टेशन के स्टालों पर उपलब्ध होने और यात्रा के दौरान मज़े के लिए पढ़ने वाली सामग्री के रूप में बेहिचक प्रचारित कर सकती थीं। (पृ. 105) साथ ही, *सुधा* 'उग्र' जैसे विवादास्पद लेखक को किताबों के विज्ञापन में क्रांतिकारी लेखक के रूप में प्रचारित भी कर सकती थी। यानी उच्च और लोकप्रिय के बीच के फ़ासले ने अनुल्लंघनीय रूप धारण नहीं किया था।

उन दिनों निबंध/लेख ने सर्वाधिक लोकप्रिय विधा का रूप ले लिया था। साहित्येतर शोधार्थियों, ख़ासकर इतिहासकारों ने इस विधा का जमकर उपयोग किया है। *सुधा* के लगभग आधे हिस्से में लेख हुआ करते थे। वे साहित्य और आलोचना, राजनीति, समाज से लेकर यात्रा, अर्थशास्त्र, इतिहास, पुरातत्व, मानवविज्ञान, विज्ञान आदि तमाम विषयों पर केंद्रित होते थे। सम्पादकों की कोशिश थी कि पाठकों के समक्ष ज़्यादा-से-ज़्यादा और विविध विषयों की ज्ञान-सामग्री परोसी जाए। (पृ. 120)। *सुधा* में मध्यकालीन ब्रज भाषा और भक्ति-काल से लेकर द्विवेदी काल और छायावाद तक के रचनाकारों और रचनाओं की आलोचनाएँ और समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं। ताज्जुब और ग़ौर करने की बात यह है कि समीक्षित रचनाकारों में महिला रचनाकार केवल तीन थीं। (पृ. 123) हिंदी भाषा, नागरी लिपि, राष्ट्र-निर्माण में हिंदी की भूमिका आदि संबंधी बहुतेरे लेख भी *सुधा* में प्रकाशित हुए, जिससे हिंदी भाषा की राजनीति में उसकी सक्रिय भूमिका प्रदर्शित होती है।

सुधा के राजनीतिक लेखों में हिंदू-मुस्लिम मुद्दे को प्रायः (उदीयमान हिंदू राष्ट्रवादी अस्मिता के परिप्रेक्ष्य से) सीधे या तनिक घुमावदार शब्दों में मुस्लिम-विरोधी रुख़ से ही सम्बोधित किया गया। (पृ. 129) संतराम जैसे लेखकों ने जात-पाँत आधारित भेदभाव से ऊपर उठने की बात भी उठायी। उन्होंने जाति-प्रथा जैसी सामाजिक बुराई से लड़ाई को राष्ट्र की आज़ादी की लड़ाई से जोड़ा। (पृ. 130) राजनीतिक लेखों के माध्यम से *सुधा* ने हिंदी पाठकों को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से जुड़े कई महत्त्वपूर्ण प्रसंगों/विषयों से भी परिचित कराया।

चौथा अध्याय *सुधा* के स्तम्भों के विश्लेषण पर केंद्रित है। इसमें शोबना ने ऊर्ध्वाधर या कालक्रमिक विधि का प्रयोग किया है। इस विधि में पत्रिका के किसी विधा विशेष या विषय पर फ़ोकस रहता है। यह विधि पारम्परिक तौर पर भी प्रचलित रही है। शोबना ने विभिन्न नियमित स्तम्भों पर कालक्रमानुसार निगाह डालते हुए यह दिखाने का प्रयास किया है कि विज्ञान, संगीत, कला, राजनीति, समाज, स्त्री, शिशु और गार्हस्थ्य जैसे स्तम्भों के जरिये सृजित किया जा रहा ज्ञान उस समय के राष्ट्रीयता विमर्श से आबद्ध था। ग़ौरतलब है कि इस क्रम में शोबना पत्रिका को महज़ अपने समय को प्रतिबिम्बित करने वाले स्रोत के रूप में ही नहीं बल्कि उसकी निर्मिति में सक्रिय भूमिका निभाने वाला कारक भी मान रही हैं। *सरस्वती, माधुरी* और *चाँद* जैसी पत्रिकाओं की तरह *सुधा* में भी सामग्री के प्रस्तुतीकरण का एक निश्चित प्रारूप अपनाया जाता था। पत्रिका के पूवार्द्ध में कविता, निबंध, धारावाहिक उपन्यास, नाटक आदि और उत्तरार्ध में नियमित स्तम्भ हुआ करते थे। हालाँकि शुरू से ही महिला पाठकों के लिए अलग से स्तम्भ थे लेकिन और भी अधिक महिला पाठकों तक अपनी पहुँच बनाने के लिए *सुधा* ने न केवल नये स्तम्भ चलाए बल्कि अन्य स्तम्भों के डिज़ाइन में भी ऐसे बदलाव किये मानो वह ख़ुद को महिला-पत्रिका में रूपांतरित करने जा रही हो। लेकिन छवि/बिम्ब के स्तर पर हुआ यह बदलाव वास्तव में दिखावा मात्र ही था। शोबना बताती हैं कि इन स्तम्भों, यहाँ तक कि स्त्री-समाज, पाक-शास्त्र, शिशु पालन, जैसे प्रत्यक्ष महिला-स्तम्भों की दो-तिहाई सामग्री के रचयिता निराला, ज़हूरबख़्श, संतराम जैसे पुरुष लेखक थे। वे हिंदी की दुनिया में आदर्श स्त्री (गृहिणी) के तक़ाज़े सिखाने के इरादे से लिख रहे थे। यह लेखन स्त्रियोचित साहित्य-विधा के आसपास जा पहुँचता था। यानी छवि/बिम्ब और पाठ के बीच का रिश्ता सीधा-सपाट नहीं था। समाज-सुधार स्तम्भ के डिज़ाइन और नाम में किये गये बदलाव का शोबना ने क़ाबिलेतारीफ़ पाठ किया है। 1932 में इस स्तम्भ का शीर्षक बदल कर 'समाज' कर दिया जाता है। इसके साथ ही स्तम्भ की तस्वीर भी बदल जाती है। पहले तस्वीर में घूँघट ओढ़े, सिर झुकाए, बेड़ियों में जकड़ी पीड़ित-स्त्री, सुधारवादी और रूढ़िवादी पुरुषों के बीच निष्क्रिय दिखाई गयी है, जिसे सुधारवादी मुक्त करना चाह रहे हैं, जबकि रूढ़िवादी पीछे से उस पर अपना फंदा फेंक कर क़ैद में रखने की कोशिश कर रहे हैं। बाद वाले चित्र में उसकी जगह वार्तालाप करती दो स्त्रियाँ ले लेती हैं। जिनके बीच में एक मेज़ है और उस पर किताब रखी हुई है। इसका आशय शोबना यह निकालती हैं कि अब मध्यवर्ग की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ समाज-सुधार (स्त्री-प्रश्न) पर ख़ुद बात कर सकती थीं, सक्रिय हो सकती थीं। (पृ. 179) लेकिन तस्वीर के स्तर पर सुधारवादी और रूढ़िवादी रुख़ों का स्पष्ट निरूपण जितना आसान था उतना पाठ के स्तर पर नहीं। पाठ में स्त्री-प्रश्न के प्रति द्वैध और विरोधाभासी रुख़ बरक़रार था। इसकी व्याख्या के लिए शोबना ने संजय जोशी को उद्धृत किया है। जोशी ने इसे औपनिवेशिक मध्यवर्ग की खण्डित आधुनिकता का लक्षण माना है।[8]

पहले तस्वीर में घूँघट ओढ़े, सिर झुकाए, बेड़ियों में जकड़ी पीड़ित-स्त्री, सुधारवादी और रूढ़िवादी पुरुषों के बीच निष्क्रिय दिखाई गयी है, जिसे सुधारवादी मुक्त करना चाह रहे हैं, जबकि रूढ़िवादी पीछे से उस पर अपना फंदा फेंक कर क़ैद में रखने की कोशिश कर रहे हैं। बाद वाले चित्र में उसकी जगह वार्तालाप करती दो स्त्रियाँ ले लेती हैं। जिनके बीच में एक मेज़ है और उस पर किताब रखी हुई है। इसका आशय शोबना यह निकालती हैं कि अब मध्यवर्ग की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ समाज-सुधार (स्त्री-प्रश्न) पर खुद बात कर सकती थीं, सक्रिय हो सकती थीं। लेकिन तस्वीर के स्तर पर सुधारवादी और रूढ़िवादी रुख़ों का स्पष्ट निरूपण जितना आसान था उतना पाठ के स्तर पर नहीं। पाठ में स्त्री-प्रश्न के प्रति द्वैध और विरोधाभासी रुख़ बरक़रार था।

[8] संजय जोशी (2001).

॥ श्रीः ॥

सुधा

सामाजिक और साहित्यिक

मासिक पत्रिका

वर्ष ६, खंड २

माघ-आषाढ़, ३१० तुलसी-संवत् (१९८९-९० वि०)

फ़रवरी-जुलाई, १९३३ ई०

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(संपादक गंगा-पुस्तकमाला)

प्रकाशक

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ

साधारण संस्करण		राजसंस्करण	
वार्षिक मूल्य	५)	वार्षिक मूल्य	१०)
एक प्रति का मूल्य	॥)	एक प्रति का मूल्य	१)
विदेश के लिये वार्षिक	६)	विदेश के लिये वार्षिक	१२)
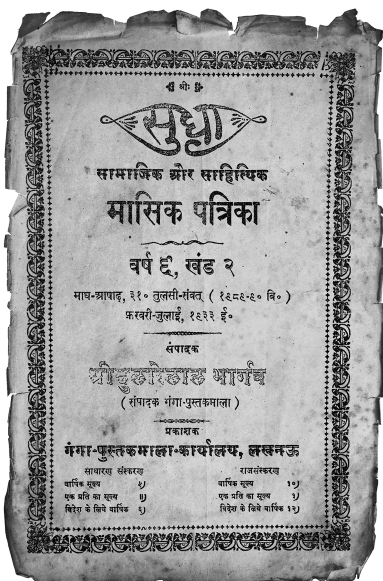
शोबना के विश्लेषण से यह बात निकल कर आती है कि उपनिवेशवाद से सामना करने की प्रक्रिया काफ़ी संश्लिष्ट रही है और उसका उसी रूप में अध्ययन होना चाहिए। इसमें पत्रिका-पाठ की नयी पद्धति काफ़ी मददगार साबित हो सकती है।

III

ज़ाहिर है कि इस तरह का अध्ययन व्यवस्थित और सुलभ अभिलेखागार के बिना सम्भव नहीं है। शोबना ने भी यह स्वीकार किया है कि उन्हें अपनी पहली किताब की सामग्री जुटाने के लिए लंदन से लेकर इलाहाबाद तक के पुस्तकालयों और अभिलेखागारों के चक्कर लगाने पड़े थे, पुस्तकालयकर्मियों की ख़ुशामद करनी पड़ी थी और अलमारियों की धूल फाँकनी पड़ी थी। कहने का आशय यह है कि उपनिवेशवादकालीन हिंदी पत्रिकाओं के किसी भी पक्ष के शोध के इच्छुक शोधार्थी को सामग्री जुटाने की बेहद कठिन और थका देने वाली प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है। कारण इस सामग्री को सुनियोजित और व्यवस्थित ढंग से संरक्षित नहीं किया जा सका है। न जाने कितनी नष्ट हो गयीं, और जो हैं वे भी किसी एक जगह एकत्रित नहीं हैं। उनके लिए शोधार्थी को दिल्ली, इलाहाबाद, बनारस, कोलकाता और न जाने कहाँ-कहाँ की ख़ाक छाननी पड़ती है। दरअसल अभिलेखागार बनाने के काम को अकादमिक/बौद्धिक गतिविधि नहीं माना जाता। इसलिए चाह कर भी कोई सामान्य अध्येता/शोधार्थी इस तरफ़ रुख़ नहीं करता। हिंदी के पत्रिका-प्रेस की महत्ता को यदि किसी ने सबसे पहले भाँपा था तो वे थे रामविलास शर्मा। उन्होंने उस सामग्री का भरपूर इस्तेमाल भी किया। उनके बाद भी उस दौर की पत्र-पत्रिकाओं का स्रोत के रूप में उपयोग का सिलसिला जारी रहा। साथ ही, उनके संरक्षण, उनके अभिलेखागार बनाने के प्रति हिंदी जगत में उदासीनता बनी रही। लेकिन ज़माना उदासीन नहीं रहा। तभी तो शोबना को अपने इस अध्ययन के लिए ज़्यादा नहीं भटकना पड़ा। उन्हें उनकी संस्था ने *सुधा* की फ़ाइलों के माइक्रोफ़िल्म आसानी से उपलब्ध करा दिये। माइक्रोफ़िल्म भी ऐसी जिसमें चित्र और विज्ञापन अक्षुण्ण थे। वर्ना वह पीरिओडिकल स्टडीज़ पद्धति की आजमाइश नहीं कर पातीं।[9] इससे यह पता चलता है कि शोधार्थी की भौगोलिक और सांस्थानिक स्थिति क्या मायने रखती है। भारतीय विश्वविद्यालयों या शोध संस्थानों का कोई शोधार्थी इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता कि उसे बैठे-बिठाए पुरानी पत्रिकाओं की फ़ाइलें मिल जाएँगी।

पत्रिका-अध्ययन अकेले नहीं किया जा सकता। इसके लिए सामूहिक प्रयास और लगन ज़रूरी है। जहाँ भी इसने व्यवस्थित रूप लिया है, वहाँ के अनुभव यही बताते हैं। शोध के संग-संग पत्र-पत्रिकाओं की सूची तैयार करना, उन्हें डिजिटाइज़ करना, उनमें प्रकाशित सामग्री का विवरण तैयार करना, उनका डेटाबेस बनाना आदि पीरिओडिकल स्टडीज़ का अनिवार्य हिस्सा है। इसे सामूहिक और सहयोगात्मक रुख़ अपनाकर ही साधा जा सकता है। उम्मीद है कि शोबना के इस अध्ययन से प्रेरित होकर और भी अध्येता इस तरफ़ रुख़ करेंगे और औपनिवेशिक हिंदी सम्पार के अनजाने और अनछुए पक्षों को अनावृत्त करेंगे।

---

[9] अक्सर होता यह है कि डिजिटल रूप प्रदान करते वक़्त अथवा जिल्दसाज़ी करते समय पुरानी पत्रिकाओं के चित्र और विज्ञापन वाले हिस्से अप्रासंगिक समझकर हटा दिये जाते हैं.

और अंत में, इस अध्ययन में हिंदी जगत के वाद-विवाद, विमर्श और विद्वानों (कम-से-कम वहाँ, जहाँ शोबना ने छायावाद, प्रगतिवाद आदि जैसे साहित्यिक विषयों पर विचार किया है) के संदर्भ का न होना खटकता है। इस मामले में वे उस बौद्धिक क़वायद से प्रभावित प्रतीत हो रही हैं जिसे अभय कुमार दुबे ने अपने अत्यंत विचारोत्तेजक शोधपत्र में अंग्रेज़ी में हिंदी की संज्ञा दी है।[10] इसके साथ ही, शोबना यदि *सुधा* में प्रकाशित रचनाओं का विवरण परिशिष्ट के रूप में शामिल करतीं, जैसा कि सुजाता राय और हर प्रसाद गौड़ ने क्रमशः *प्रभा* और *सरस्वती* पर लिखी किताबों में किया है तो यह पीरिओडिकल स्टडीज़ के विकास की दिशा में उनका एक और योगदान साबित होता।

संदर्भ

अभय कुमार दुबे (2015), *हिंदी में हम : आधुनिकता के कारख़ाने में भाषा और विचार,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

अविनाश कुमार (2014), *मेकिंग ऑफ़ हिंदी लिटरेरी फील्ड : जर्नल्स, इंस्टीट्युशंस, पर्सनैलिटीज़,* अप्रकाशित थीसिस, http://hdl.handle.net/10603/29068.

उलराइक स्टार्क (2009), *ऐन एम्पायर ऑफ़ बुक्स : द नवल किशोर प्रेस ऐंड द डिफ़्यूजन ऑफ़ प्रिंटेड वर्ड इन कोलोनियल इंडिया,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

चारु गुप्ता (2012), *स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

मिशेल हॉम्स, जोआन जज और बारबरा मिटलर (सं.) (2018), *वीमेन ऐंड द पीरिओडिकल प्रेस इन चाइनाज लॉन्ग ट्वेंटीयथ सेंचुरी : अ स्पेस ऑफ़ देयर ऑन,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

शोबना निझावन (2012), *वीमेन ऐंड गर्ल्स इन द हिंदी पब्लिक स्फ़ीयर : पीरिओडिकल लिटरेचर इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

शोबना निझावन (2015), 'बीसवीं सदी का प्रारम्भिक बाल साहित्य', *कथा : बाल साहित्य आलोचना विशेषांक,* (सं.) अनुज, नयी दिल्ली.

संजय जोशी (2001), *फ्रेक्चर्ड मॉडर्निटी : मेकिंग ऑफ़ अ मिडिल क्लास इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सुजाता राय (1995), *प्रभा और राष्ट्रीय जागरण,* अनामिका प्रकाशन, नयी दिल्ली.

हर प्रसाद गौड़ (1983), *सरस्वती और राष्ट्रीय जागरण,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

[10] अभय कुमार दुबे (2015) : 89-148.

हिंदी संस्कृत की बेटी, या उर्दू की दुश्मन, या अंग्रेज़ी की चेरी नहीं है। अगर वह किसी की बेटी है तो भारतीय आधुनिकता की बेटी है। हिंदी की आलोचना करने के लिए आधुनिकता के उस कारख़ाने की आलोचना करनी होगी जिसकी कारीगरी का नतीजा यह अनूठी भाषा है। चूँकि इसका सीधा संबंध आधुनिकता से है, इसलिए यह आधुनिक विचारों के साथ बड़ी छूट लेती है। यह प्रक्रिया समाज को फ़ायदा भी पहुँचाती है, और फ़ायदा पहुँचाने की सम्भावनाएँ कभी-कभी संदिग्ध भी लगती हैं। कुल मिला कर सभी आधुनिक विचार हिंदी के दायरे में दोनों सिरों से खुले रहते हैं।